शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

फाल्गुन : २४८२ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक : ११

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

❀ सच्चा उद्यम ❀

समयसार में आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू जगत का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर अन्तर में चैतन्यवस्तु के अनुभवन का छह महीने तक प्रयत्न कर, तो तेरे अन्तर में तुझे अवश्य उसकी प्राप्ति होगी। दूसरी रुचि छोड़कर चैतन्य का रुचिपूर्वक यदि अन्तर में अभ्यास करे तो अल्पकाल में उसका अनुभव हुए बिना न रहे। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अन्तर में तत्वनिर्णय और अनुभव का अपूर्व उद्यम करना चाहिये।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१३१

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

'ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव'

[जैन साहित्य का एक नया प्रकाशन]

''ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव'' नामक एक हिन्दी पुस्तक श्री जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) की ओर से प्रकाशित हुई है। पुस्तक का विषय जितना उत्तम है, उतना ही उसका मुद्रण-कार्य, कागज, बाइन्डिंग आदि भी उत्तम है, और तिरंग सुन्दर चित्र भी है। पृष्ठ-संख्या प्राय: ४००; मूल्य रु. २-८-०। यह पुस्तक विशेषतया मुमुक्षुओं को स्वाध्याय के लिये नितान्त उपयोगी है! पुस्तक के विशेष परिचयार्थ उसके निवेदन से निम्नांकित कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

'जो प्रवचन इस पुस्तक में प्रसिद्ध हुए हैं, वे वास्तव में जैनशासन के पुनीत साहित्य में पू. श्री कहानगुरुदेव की एक महान अमूल्य भेंट है। हम विचार में पड़ गये कि इस अमूल्य भेंट को कौन-सा नाम दिया जाय! अन्त में बहुत सोचकर इसका नाम रक्खा—'ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव।' यह नाम क्यों पसन्द किया इसके बारे में थोड़ा-सा स्पष्टीकरण देखिये—

१- आत्मा का ज्ञानस्वभाव है;

२- उसकी पूर्ण व्यक्ति केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता है; सर्वज्ञता के निर्णय से ज्ञानस्वभाव का भी निर्णय हो जाता है (प्रवचनसार गा. ८० वत्)

३- सर्वज्ञता के निर्णय में सारे ही ज्ञेयपदार्थों के स्वभावगत क्रमबद्धपरिणमन की प्रतीति भी हो ही जाती है, क्योंकि भगवान सब देख रहा है।

—इस तरह ज्ञानस्वभाव का व ज्ञेयस्वभाव का निर्णय कराने का ही मुख्य प्रयोजन होने से इस अमूल्य भेंट का नाम 'ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव' रक्खा। इसके निर्णय किये बिना किसी भी तरह से जीव को वीतरागीज्ञान-सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

जो भी मुमुक्षु जीव आत्मा का हित साधना चाहता हो, उसको उपर्युक्त विषय का यथार्थ अबाधित निर्णय अवश्य करना ही चाहिये। इसका निर्णय किये बिना सर्वज्ञ के मार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता, और उसका निर्णय होते ही इस आत्मा में सर्वज्ञदेव के मार्ग का—मुक्ति के मार्ग का-मंगलाचरण हो जाता है।

इस पर से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी कि जिज्ञासु जीवों को यह विषय कितने महत्व का है! और इसलिये पू. गुरुदेव ने समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक शास्त्रों के आधार से, युक्ति-अनुभव से भरपूर प्रवचनों के द्वारा यह विषय बहुत स्पष्ट करके समझाया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझकर पू. गुरुदेव ने भव्य जीवों के ऊपर महान उपकार किया है।....

...ओ भारत के भव्य मुमुक्षु जीवों! इस अमूल्य भेंट को पाकर हर्षपूर्वक इसका सत्कार कीजिये... हमारे आत्महित के लिये श्री तीर्थंकर भगवान ने परम कृपा करके गुरुदेव के द्वारा यह भेंट अपने को दी है—ऐसा ही मानकर, इसमें कहे हुए यथार्थ गंभीर रहस्य को समझकर ज्ञायकस्वभाव सन्मुख हो, आत्महित के पावन ...

आत्मधर्म

फाल्गुन : २४८२ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक : ११

जिज्ञासु की विचारणा

अज्ञानभाव के कारण यह आत्मा अनादिकाल से भवसागर में भटक रहा है। अरे जीव! तू विचार तो कर कि अब यह संसार परिभ्रमण कैसे दूर हो? अंतर में जो वास्तविक साधन है, उसे भूलकर बाह्य में अन्य साधन किये, किन्तु उससे भवभ्रमण का अन्त नहीं आता। गुरुगम से पात्र होकर अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसमें अंतर्दृष्टि करने से अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है और भवभ्रमण का अन्त आता है।

यह तत्त्वज्ञान तरंगिणी का पाँचवाँ अध्याय पढ़ा जा रहा है; उसके ग्यारहवें श्लोक में कहते हैं कि—

शौचसंयमशीलानि दुर्धराणि तपांसि च।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमंतराधृतवाहनम्॥

जिसे आत्मा का हित करने की जिज्ञासा है, ऐसा जीव अंतर में विचार करता है कि—मैंने मनुष्य भव प्राप्त करके शुद्ध आत्मा के भान बिना पूर्वकाल में अनन्तबार शुभभाव से शील और संयम का पालन किया, दुर्द्धर तप किये, किन्तु उनसे मेरे भवों का अन्त नहीं आया।

जिज्ञासु जीव विचार करता है कि अरे, मेरा आत्मा अनादिकाल से इस भवसागर में भटक रहा है, अज्ञान के कारण भावमरण कर रहा है! श्रीमद् राजचंद्र सोलह वर्ष की उम्र में कहते हैं

कि—''क्षण क्षण भयंकर भावमरण में कहाँ अहो राचि करो''—आत्मा की पहिचान बिना, बाह्य में मेरा सुख है—ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण जीव प्रतिक्षण भावमरण से मर रहा है; उसी में राच रहा है! विचार भी नहीं करता कि यह संसार-भ्रमण अब कैसे दूर हो? ऐसा मनुष्यपना प्राप्त हुआ, सत्समागम मिला, तो अब मेरा भवभ्रमण कैसे दूर हो, उसका विचार कर!

''बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मल्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहीं एके टल्यो।
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे, लेश ए लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो?''

पूर्व पुण्य से ऐसा मनुष्य अवतार मिला, तो अब अन्तर में एक क्षण इसका विचार तो करो कि भवभ्रमण कैसे दूर हो।

''हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वलगणा छे? राखुं के ए परिहरुं?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्यां,
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना सिद्धांत तत्वो अनुभव्यां।''

अरे, इस देह का संयोग तो क्षणिक है, वह अल्पकाल में छूट जायेगा; देह से भिन्न मेरा आत्मा क्या वस्तु है? मेरा स्वरूप क्या है?—इसका अंतर में लक्ष तो करो। आत्मा का वास्तविक ज्ञानानंदस्वरूप क्या है, उसका विचार करके पहिचान करो। आत्मा इस शरीर से भिन्न ज्ञानानन्द-स्वरूप है; उसमें सर्वज्ञ होने की शक्ति विद्यमान है। जो सर्वज्ञ हुए, वे कहाँ से हुए?—बाह्य में से सर्वज्ञता नहीं आई, किन्तु अंतर में ज्ञानस्वभाव का परिपूर्ण सामर्थ्य भरा है, उसमें एकाग्रता करने से सर्वज्ञता प्रगट होती है—अंतर में शक्ति भरी है, उसी में से प्रगट होती है। शरीर-मन-वाणी आदि जड़ है; वह तो मैं नहीं हूँ, और अंतर में शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वह भी मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है; और वर्तमान में ज्ञान का अल्प विकास है, उस अल्पज्ञता जितना भी मैं नहीं हूँ; अल्पज्ञता के समय भी मुझमें परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य विद्यमान है;—ऐसे अपने परिपूर्ण ज्ञानानंद स्वभाव की प्रतीति करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह अपूर्व धर्म है।

देखो, धर्म अपूर्व वस्तु है; अनन्तकाल में एक क्षण भी धर्म नहीं किया, तो उसका क्या स्वरूप है, वह समझना चाहिए। अज्ञानी लोग बाह्य साधनों से आत्मा का धर्म होना मनाते हैं, वहाँ

परीक्षा करके स्वयं निर्णय करना चाहिए। कोई आकर कहे कि—''मैंने तुम्हारे पिताजी को पच्चीस हजार रुपये दिये थे, वे दे दो।''—तो वहाँ निर्णय किये बिना यों ही विश्वास नहीं कर लेता। तब फिर धर्म क्या वस्तु है, उसका यथार्थ निर्णय करना चाहिए। जिसका एक क्षण सेवन करने से अनन्त कालीन भवभ्रमण दूर हो जाता हे—ऐसे धर्म का स्वरूप क्या है, वह कभी नहीं समझा। धर्म के भान बिना पाप और पुण्य करके जीव चारों गतियों में भटक रहा है। महापाप करके नर्क में भी अनन्तबार गया है और पुण्य करके स्वर्ग में भी अनन्तबार गया है; वक्रता करके अनन्तबार पशु भी हुआ है और सरलता करके मनुष्यभव भी अनन्तबार प्राप्त किया; किन्तु मेरा आत्मा क्या वस्तु है – इसका भान एक क्षण भी नहीं किया। मेरा धर्म मेरे आत्मा के अवलम्बन से है, बाह्य अवलम्बन से मेरा धर्म नहीं है—ऐसा भान यदि एकबार भी करे तो भव का नाश हुए बिना न रहे। कच्चा चना बोने से उगता है और खाने में कसैला लगता है, किन्तु वह सेकने पर उगता नहीं है और स्वाद मीठा हो जाता है; तो वह मिठास कहाँ से आई ?—वह मिठास चने के स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई है। उसी प्रकार आत्मा अज्ञानभावरूपी कचास के कारण चार गति के जन्म-मरण में उगता है और आकुलतारूपी कसैले स्वाद का उपभोग करता है; किन्तु अंतर में ज्ञानानन्दस्वरूपी परम सत्य का स्वीकार करने से जन्म-मरणरूपी वृक्ष नहीं उगता और अन्तर के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद प्रगट होता है। वह आनन्द कहाँ से आया ? अन्तर के स्वभाव में पूर्ण आनंद की शक्ति भरी है, वही व्यक्त होती है। बाह्य संयोग से वह आनन्द प्रगट नहीं हुआ किन्तु स्वभाव में शक्तिरूप से भरा था, उसमें एकाग्र होने से प्रगट हुआ है। जैसा सिद्ध भगवान का आनन्द है, वैसा ही आनन्द प्रत्येक आत्मा में शक्तिरूप से भरा है; उसका अन्तर में विश्वास करके उसमें एकाग्रता करने से आनन्द का अनुभव होता है। इसका नाम धर्म है।

अन्तर में आत्मा का भान करके अतीन्द्रिय आनन्द का अंशत: अनुभव तो तिर्यंच भी कर सकते हैं; सातवें नर्क के नारकी भी अंतर्दृष्टि करके अपूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और अतीन्द्रिय आत्म-शान्ति के अंश का वेदन करते हैं। किसी संयोग में आत्मा की शांति नहीं है; और पुण्य-परिणाम करे, उसमें भी आत्मा की शांति नहीं है; शांति का समुद्र तो भगवान आत्मा है, उसमें डुबकी लगाने से शांति का अनुभव प्रगट होता है। बाह्य में धन, इज्जत आदि का प्राप्त होना तो पूर्व प्रारब्ध का फल है, किन्तु धर्म तो वर्तमान के अपूर्व प्रयत्न से होता है। अन्तर में स्वभाव के प्रयत्न बिना धर्म नहीं हो सकता। संयोग आयें या जायें, उसमें जीव की वर्तमान बुद्धिमानी या प्रयत्न काम

नहीं आता; जीव राग-द्वेष कर सकता है, इच्छा कर सकता है, किन्तु पर का कार्य नहीं कर सकता। और संयोग से पार चिदानन्दस्वभाव का भान अपने सम्यक् प्रयत्न से होता है। भाई! तेरी इच्छा का प्रयत्न इस शरीर पर भी नहीं चलता; शरीर की अवस्था तेरी इच्छानुसार नहीं रहती। पुण्य-पाप की जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे क्षणिक हैं, प्रतिक्षण नई-नई होती हैं और नष्ट हो जाती हैं; वे आत्मा के स्वरूप के साथ स्थित नहीं रहती। उनका ज्ञान रहता है, किन्तु वे वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसलिये पुण्य-पाप की वृत्तिरहित जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी पहिचान करना चाहिये। अहो! सम्यग्दर्शन के ओर की दिशा कौन-सी है, उसकी भी जगत को खबर नहीं है और बाह्य उपायों को मानते हैं। भाई! तेरे आत्मा में पूर्ण ज्ञान और आनन्द की शक्ति भरी है, तेरी प्रभुता तुझ ही में विद्यमान है, उसका लक्ष करके प्रतीति करने पर आत्मा में से अतीन्द्रिय आनंद की डकारें आती हैं, उसका नाम धर्म है। ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि बिना बाह्य से धर्म मानकर शुक्ललेश्या के शुभपरिणाम भी तूने अनन्तबार किये, किन्तु लेशमात्र धर्म नहीं हुआ। आत्मज्ञान के बिना द्रव्यसंयम लिये, शुभराग से पंच महाव्रतों का पालन किया, किन्तु आत्मा के लक्ष बिना तेरी भवअटवी का अन्त नहीं आया। गुरुगम से आत्मा के बोध बिना स्वच्छन्दता से अन्य साधन अनन्तबार किये, किन्तु अभी तक किंचित् कल्याण नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ?—कहते हैं, मूल साधन बाकी रह गया। अन्तर में जो वास्तविक साधन है, उसे पहिचाने बिना बाह्य साधन किये, किन्तु उनसे भव-भ्रमण का अन्त नहीं आया। गुरुगम से पात्र होकर अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसमें अन्तर्दृष्टि करने से अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है और भवभ्रमण का अन्त आता है।

[चूड़ा ग्राम में परम पूज्य गुरुदेव का प्रवचन; वीर सं. २४८०, वैशाख शुक्ला ९]

आत्मा की पहिचान

[माणावदरग्राम में माघ शुक्ला १५ के दिन पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

यह आत्मतत्त्व की बात है। आत्मा आनन्दस्वरूपतत्त्व है; सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में तीनकाल-तीनलोक देखे, उसमें आत्मा को अनादि-अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूप देखा है। आत्मा का आदि नहीं है, यानी उसे किसी ने बनाया नहीं है;—और न कभी उसका नाश होता है। आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर अनादिकाल से संसार की चार गतियों में भटक रहा है। अज्ञानभाव से पुण्य करके स्वर्ग में भी जीव अनन्तबार गया है और तिर्यंच तथा मनुष्य भी अनन्तबार हुआ है। जो जीव तीव्र मान-माया-कुटिलता और दम्भ के परिणाम करता है, वह मरकर तिर्यंच होता है। उसने पूर्वभव में बहुत वक्रता की, इसलिये उसे शरीर भी आड़ा (टेढ़ा) मिला है। मन्दकषायादि के परिणाम से मनुष्यपना भी अनन्तबार मिला है, किन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, उसकी पहिचान कभी एक क्षण भी नहीं की।

आत्मा, देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व है; वह स्वयं आनंदस्वरूप है, किन्तु अपने स्वरूप को भूलकर बाह्य में सुख मानता है; इसलिये उसे अपने आनन्द का अनुभव नहीं होता। आत्मा अनादि-अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है। जिसप्रकार चने में मीठापन भरा है, उसी प्रकार आत्मा में आनन्द भरा है, किन्तु उसकी प्रतीति करके उसमें एकाग्रता करने में वह प्रगट होता है। कच्चे चने में मिठास तो भरी है, किन्तु कच्चा होने के कारण वह कषायला लगता है और बोने से उगता भी है; उसे सेकने से मिठास प्रगट होती है और बोने से उगता भी नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव में आनन्द भरा है, किन्तु उस स्वभाव को भूलकर "शरीर है, सो मैं हूँ, और पुण्य-पाप जितना ही मैं हूँ"—ऐसा वह मानता है; उस अज्ञानरूपी कचाँद के कारण उसे अपने आनन्द का अनुभव नहीं होता और वह चौरासी के अवतारों में भटकता है। यदि सत्समागम से यथार्थ समझकर आत्मा के स्वभाव की प्रतीति करे तो आनन्द का व्यक्त अनुभव होता है और जन्म-मरण नहीं होते। सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा आत्मा कहा है, वैसे आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेने का नाम धर्म है।

जिसप्रकार पानी का मूलस्वभाव शीतल है; अग्नि के संयोग से वह वर्तमान में गर्म होने पर भी उसका शीतल स्वभाव नष्ट नहीं हो गया है; इसलिये गर्म पानी को ठण्डा करने से वह शीतल हो

जायेगा—ऐसा लक्ष में लेकर ठण्डा करता है; उसी प्रकार आत्मा का चिदानन्दस्वभाव शांत-अनाकुल-शीतल है; पुण्य-पाप की आकुलता वर्तमान में होने पर भी वह आत्मा का मूलस्वरूप नहीं है; मूलस्वरूप तो शांत-अनाकुल है; क्षणिक पुण्य-पाप के समय भी मूलस्वभाव नष्ट नहीं हो गया है। जैसे सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है;—ऐसे स्वभाव को लक्ष में लेकर एकाग्र होने से निर्मल शांति प्रगट होती है और मलिनता दूर हो जाती है। सत्समागम से ऐसे स्वभाव को पहिचानना, वह धर्म का उपाय है।

जीव ने अनादिकाल में एक क्षण भी चैतन्यतत्त्व की पहिचान नहीं की और अज्ञानभाव से पुण्य-पाप करके स्वर्ग-नरकादि चारों गतियों में अवतार धारण किये हैं। नर्क का भी नीचे स्थान है; वहाँ जीव पाप का फल भोगता है। नर्क कोई कल्पना नहीं है, किन्तु नीचे उसका स्थान है ही; तीव्र पाप करनेवाले जीव उस पाप का फल भोगने के लिये वहाँ जाते हैं। देखो, इस लोक में तो राज्य के कानून में लाखों लोगों की हिंसा करनेवाले को भी एक ही बार फाँसी दी जाती है, कहीं लाखों बार फाँसी नहीं दी जाती। तो ऐसा कैसे हो सकता है कि एक आदमी को मारने का फल एकबार फाँसी और लाखों लोगों को मारने के भाव का फल भी एकबार फाँसी ? जो भी तुझे प्रतिकूलता करते हैं, उन सबको मैं मार डालूँ; फिर भले ही उस कार्य में चाहे जितना समय लगे और चाहे जितनी संख्या हो; किन्तु प्रतिकूलता करनेवाले को मैं मार ही डालूँ!—इसप्रकार जो जीव लाखों-करोड़ों जीवों की हिंसा के क्रूर परिणाम करता है, वह नर्क में जाता है। बाह्य में भले ही जीव मरें या न मरें, किन्तु बहुत काल तक बहुत-से जीवों को मार डालने के जो परिणाम हुए, उस पाप का फल नर्क है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि जीव पाप से नर्क में और पुण्य से स्वर्ग में अनन्तबार गया, किन्तु उस पुण्य-पाप से पार चैतन्यतत्त्व की समझ पहले कभी नहीं की। आत्मा के स्वभाव का भान करना, वह अपूर्व वस्तु है। जिसप्रकार लैंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति भरी है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण केवलज्ञान होने की शक्ति विद्यमान है। ऐसे चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करो... पहिचान करो, सत्समागम से उसका श्रवण-मनन करो। बाह्य में पैसादि आयें, उसमें आत्मा की कोई चतुराई नहीं है, वह तो पूर्व पुण्यानुसार आते हैं, अज्ञानी व्यर्थ का अभिमान करता है। शरीर मेरा, शरीर के कार्य मैं करता हूँ—इसप्रकार पर का अहंकार और पुण्य-पाप में ममकार करके स्वयं ही अपने चैतन्यस्वभाव को भूला है तथा सच्ची पहिचानपूर्वक स्वयं ही उस भूल को दूर करता है। आत्मा में स्थायी ज्ञान और आनन्द भरे हैं, उनका विश्वास करना, वह धर्म

है। किन्तु मुझमें ही मेरा आनन्द है—इस बात का विश्वास अज्ञानी को नहीं आता। जिसप्रकार कस्तूरिया मृग की नाभि में ही कस्तूरी भरी है, किन्तु स्वयं अपना विश्वास नहीं करता; इसलिये बाह्य में दौड़ता है। उसी प्रकार आत्मा में ही परिपूर्ण आनन्द की शक्ति भरी है, किन्तु उसका विश्वास न करके अज्ञानी जीव बाह्य वस्तुओं में सुख और आनन्द ढूँढ़ता है; आत्मा की शान्ति तो आत्मा में है—बाह्य में आत्मा की शांति नहीं है। बाह्य संयोगों से आत्मा को सुख या दुःख नहीं है।

बाह्य में सधनता का होना कोई गुण नहीं है और निर्धनता का होना कोई दोष नहीं है; किन्तु ''मैं सधन''—ऐसा अभिमान करना अथवा ''मैं निर्धन''—ऐसी दीनता बतलाना, वह दोष है। और ''मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, सधनता या निर्धनता मेरा स्वरूप नहीं है''—ऐसा सम्यक्भान करना, वह गुण है—धर्म है। आत्मा क्या वस्तु है, उसका यह वर्णन हो रहा है। आत्मा स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है—ऐसा अस्तित्व-नास्तित्वधर्म है। अपने ज्ञान-आनन्दस्वरूप से आत्मा अस्तिरूप है और पररूप से नहीं है अर्थात् नास्तिरूप है। जिसप्रकार दो ऊँगलियों में से पहली उँगली दूसरीरूप से नहीं है, उसी प्रकार आत्मा, परवस्तुरूप से नहीं है। जगत में प्रत्येक वस्तु स्व-रूप से सत् है और पररूप से असत् है। पररूप से आत्मा नहीं है, इसलिये पर से आत्मा को सुख-दुःख हों, यह बात नहीं रहती।

सर्वज्ञ भगवान सीमंधर परमात्मा इससमय महाविदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं; उन्हें अभी शरीर का संयोग है। दिव्यध्वनि से सहज उपदेश निकलता है, किन्तु ''मैं उपदेश दूँ''—ऐसी इच्छा उनके नहीं है; इच्छा का तो नाश होकर केवलज्ञान प्रगट हो गया है। निचलीदशा में आत्मा को इच्छा होती है, किन्तु वहाँ धर्मी जानता है कि इस इच्छा द्वारा कहीं जड़ का कार्य नहीं होता। अज्ञानी इच्छा का स्वामी होकर—''मैंने पर का कार्य किया''—ऐसा अभिमान करता है। इकलौता प्यारा पुत्र मर रहा हो, उस समय क्या उसे मरने देने की इच्छा है ? उसे बचाने की तीव्र इच्छा होने पर भी क्यों नहीं बचा सकता ?—वह वस्तु ही पर है, उसमें जीव की इच्छा काम नहीं आती। संयोग और विकार से पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है,—ऐसा भान करके सम्यग्दर्शन करना, वह अपूर्व सूक्ष्म वस्तु है। श्रेणिक राजा के व्रतादि नहीं थे, राजपाट नहीं छोड़ा था, और राग भी था, किन्तु अन्तर में ''मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ''—ऐसा भान था, उसके प्रताप से आनेवाली चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होंगे। पहले आत्मा की पहिचान होती है और फिर व्रत-तप होते हैं—ऐसा धर्म का क्रम है। जिसप्रकार हलवा बनाना हो तो उस का क्रम जान लेता है कि पहले आटे को घी में सेंककर फिर उसमें शक्कर

का पानी डालना चाहिये। उस क्रम के बदले घी की बचत करने के लिये पहले शक्कर के पानी में आटा डाल दे तो उसका हलवा नहीं होगा किन्तु लूपरी होगी। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की पहिचान करके पहले सम्यक्श्रद्धा करना चाहिए, फिर व्रत-तप-चारित्र होते हैं—ऐसा धर्म का क्रम है। उसके बदले सम्यक्श्रद्धा किये बिना जो यों ही व्रत-तप के शुभराग से धर्म मान बैठे, उसे धर्म नहीं होगा किन्तु संसार ही होगा। चिदानन्दस्वरूप आत्मा, पुण्य-पाप रहित है; उसकी पहिचान करना, वह अपूर्व धर्म है। चैतन्यतत्त्व की पहिचान किये बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। इसलिये यह मनुष्यभव पाकर सत्समागम से आत्मा की पहिचान का प्रयत्न करना चाहिये।●●

गिरनारजी तीर्थ की यात्रा का महोत्सव

- स्थान-स्थान पर जमी हुई उमंग भरी भक्ति....
- महान संघ सहित कहान गुरुदेव की अद्भुत यात्रा...
- पुनः पुनः ऐसी अद्भुत यात्रा कराने के लिये भक्तों का नम्र आग्रह...

भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु की कल्याणक भूमि श्री गिरनारजी तीर्थ की अपूर्व उल्लासभरी यात्रा परम पूज्य कहानगुरुदेव ने समस्त संघ को कराई। परम पूज्य गुरुदेव के साथ गिरनारजी की यात्रा में सर्व भक्तजनों को अत्यन्त आनन्द आया था। पूज्य गुरुदेव विहार करते हुए ज्यों-ज्यों गिरनारजी के निकट पहुँच रहे थे, त्यों-त्यों ऐसा लगता था मानो गिरनारजी की प्रदक्षिणा कर रहे हों। गिरनार पर्वत वास्तव में बड़ा ही रमणीक है; उसे देखते ही भगवान नेमिनाथ स्वामी का सारा

जीवन दृष्टि के समक्ष तैरने लगता है और उसके ऊँचे-ऊँचे शिखर मानो नेमिनाथ भगवान का जीवन-गान गा रहे हों—ऐसे दिखाई देते हैं। विवाह के समय पशुओं की करुण पुकार सुनकर राजुल का त्याग करके भगवान ने गिरनार पर दीक्षा ली और केवलज्ञान प्राप्त किया, तब इन्द्रों ने आकर वहाँ स्वर्ण कोटोंवाले समवशरण की रचना की थी,—उसकी साक्षी देने के लिये आज भी गिरनार के पत्थर स्वर्ण रजकणों से चमक रहे हैं। ऐसे पवित्र धाम गिरनारजी पर चढ़ते हुए पूज्य गुरुदेव पद-पद पर भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के जीवन की और करोड़ों मुनिवरों की पावन स्मृतियाँ सुनाते थे; जिन्हें सुनकर मुमुक्षुओं को भगवान के पवित्र उन्नति पथ पर विचरने की प्रेरणा जागृत होती थी। मार्ग में चढ़ते-चढ़ते कोई थक जाये तो पूज्य गुरुदेव कहते थे कि—"हिम्मत रखकर चढ़ते जाओ..." इसप्रकार गुरुदेव की वाणी द्वारा भगवान के पदचिह्नों पर चलने का प्रोत्साहन मिलता था।

परम पूज्य गुरुदेव ने माघ शुक्ला १० के दिन जब जूनागढ़ में प्रवेश किया था, उससमय भक्तजनों ने उमंग से भावपूर्ण स्वागत किया था। सर्वप्रथम गुरुदेव ने प्रवचन के लिये तैयार किये गये मण्डप में पधारकर मांगलिक सुनाया था कि—"आज महा मांगलिक दिन है, और भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के दीक्षा, केवल और मोक्ष—यह तीन कल्याणक इस गिरनारभूमि में हुए हैं, इसलिये यह भूमि भी मंगलमय है। इन्द्रों ने यहाँ आकर भगवान के तीन कल्याणक मनाये थे; श्रीकृष्ण वासुदेव और बलदेव जैसे यहाँ भगवान के चरणों में नमस्कार करते थे। भगवान नेमिनाथ प्रभु आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का भान लेकर अवतरित हुए थे; फिर जब विवाह के लिये यहाँ आये, तब वैराग्य हो जाने से दीक्षित हो गये। यहाँ के सहसावन में ही भगवान ने दीक्षा ली थी, और फिर आनन्दनिधान आत्मा की रमणता से केवलज्ञान भी यहीं प्राप्त किया था तथा मोक्ष भी इस गिरनारजी की पाँचवीं टोंक से पधारे थे। भगवान को जो दशा प्रगट हुई, वह तो भावमंगल है; उस भाव के निमित्तरूप यह क्षेत्र है, वह भी स्थापना निक्षेप से मंगलरूप है; और तीर्थंकर भगवान का आत्मा स्वयं द्रव्यमंगल है; तीर्थंकर होनेवाला आत्मा अनादि-अनन्त मंगलरूप है। भगवान ने अपने आत्मा में जैसा भाव प्रगट किया, वैसे ही भाव को पहिचान ले, उसे यह क्षेत्र देखते ही वैसे भाव का स्मरण होता है। जैसे भाव से भगवान ने मुनिपना, केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट की, वैसे भाव को पहिचानकर, भगवान की भाँति अपने आत्मा में भी वैसा भाव प्रगट करना, वह अपूर्व मंगल है और वही परमार्थ यात्रा है...."

—इत्यादि अपूर्व मांगलिक सुनाने के बाद पूज्य गुरुदेव जूनागढ़ शहर के जिन मंदिर में नेमिनाथ भगवन के दर्शनों को पधारे थे।

दोपहर के समय पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में डेढ़ से दो हजार जनता एकत्रित हुई थी और गुरुदेव ने सुन्दर शैली में अद्‌भुत प्रवचन किया था; उस प्रवचन में नेमिनाथ भगवान के अंतरंग आत्मिक जीवन का भी संकलन कर दिया था। प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर से भगवान को मण्डप में विराजमान करके वहाँ भक्ति की गई थी। उसमें—

''मैं तेरे ढिग आया रे... नेम!
तेरे गिढ़ आया....
गढ़ गिरनारे आया...''

—इत्यादि स्तवनों द्वारा पूज्य बहिनश्री बहिन ने उमंगभरी भक्ति कराई थी!

सायंकाल पूज्य गुरुदेव जूनागढ़ शहर से गिरनारजी की तलहटी में पधारे थे। तलहटी करीब तीन मील दूर है। पूज्य गुरुदेव के साथ-साथ अनेक भक्तजन भी गिरनारजी से भेंट करने के लिये गाते-गाते जा रहे थे... उस समय भगवान के पवित्र धाम के दर्शनों की उत्कृष्ट भावना से भक्तों के पैर जल्दी-जल्दी उठ रहे थे। ऐसा मालूम होता था मानो पूज्य गुरुदेव सब को दौड़ाकर भगवान से भेंट कराते हों! तलहटी में पहुँचकर पूज्य गुरुदेव दिगम्बर जैन धर्मशाला में ठहरे थे और रात्रिचर्चा भी वहीं हुई थी। आज सारी धर्मशाला यात्रियों से खचाखच भर गई थी और सवेरे भगवान से भेंट करने की उत्कंठा में मानो सब की नींद भी उड़ गई थी।

❀❀❀❀

पहली टोंक और सहसावन की यात्रा

[माघ शुक्ला ११]

माघ शुक्ला ११ के दिन प्रातःकाल, तलहटी के जिनमन्दिर में दर्शन करके, नेमिनाथ प्रभु की जय-जयकार करते हुए, संघ के विशाल समुदाय सहित परम पूज्य बाल ब्रह्मचारी कहान गुरुदेव ने गिरनारजी तीर्थ की यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग में पद-पद पर नेमिनाथ भगवान के वैराग्यपूर्ण स्मरण जागृत होते थे। संघ में करीब हजारेक आदमी थे, जिन में सौ से भी अधिक डोलियाँ थीं। पूज्य गुरुदेव के साथ गिरनारजी की यात्रा करने में भक्तजनों को इतना उल्लास था कि वे अपनी थकान भूलकर उत्साहपूर्वक गिरनार पर्वत पर चढ़ते जाते थे।

पहली टोंक पर पहुँचने के बाद वहाँ के दिगम्बर जिनमन्दिर में भक्तजनों ने नेमिनाथ प्रभु की पूजा की, और फिर भक्ति हुई। यात्रियों की संख्या इतनी अधिक थी कि सारा मन्दिर भीतर और बाहर खचाखच भर गया था। पूज्य गुरुदेव ने बड़ी भक्तिपूर्वक निम्नोक्त स्तवन गवाया था—

''गिरीनारना वासी नेम जिणंदजी...
थया प्रभुना कल्याणक त्रण (अहीं)
गिरनार जो,
तुज दरशनथी मारुं मन प्रसन्न थयं
पूरो प्रभुजी शिवपुरनी मुज आशजो

—इत्यादि। स्तवन पूर्ण होने पर स्वयं गुरुदेव ने भगवान की जय बुलवाई थी।

पूज्य बहिनश्री बहिन ने वहाँ ''प्रभुनां पुनीत पगलां आज...''—यह नया काव्य गवाया था।

आज गिरनारजी की यात्रा हुई, उसकी खुशी में पूज्य गुरुदेव ने सभी भक्तजनों को आहारदान का अवसर दिया था।

❀❀❀❀

दोपहर के समय पूज्य गुरुदेव संघसहित नेमिनाथ भगवान की दीक्षाकल्याणकभूमि सहस्राम्रवन की यात्रा को गये थे। वहाँ भगवान की वैराग्यभूमि देखते ही वैराग्य प्लावित चित्त से गुरुदेव ने भक्ति कराई थी। पहले—''गिरनार गिरि के वासी जिन को करोड़ों प्रणाम...''—यह स्तवन गवाया था और फिर निम्नोक्त—

''मारा नेम पिया गिरनारी चाल्या
मत कोई रोक लगाजो
हाँ मत कोई रोक लगाजो...
लार-लार संयम में लेशुं मत
कोई प्रीत बढ़ाजो
हाँ मत कोई प्रीत बढ़ाजो...''

पूज्य गुरुदेव ने अद्‌भुत वैराग्य रस से भरपूर भक्ति कराई, जिससे भक्तों में अपार उल्लास छा गया था। तत्पश्चात्—''बाल ब्रह्मचारी जिणंदपद धारी सेवे सुरनर चंदा रे, गिरनार गिरि पर नेम जिणंदा भेंटत टले भव फंदा रे...'' इस काव्य द्वारा भक्ति हुई थी और भाई श्री हिम्मतलालजी ने ''ते

गुरु मेरे मन बसो''—यह स्तुति की थी; जिसकी अन्तिम कड़ी पूज्य गुरुदेव ने भी उल्लसित होकर गवाई थी।

भक्ति के पश्चात् गुरुदेव ने नेमिनाथ भगवान के पवित्र चरण-कमल का स्पर्श किया था और अन्तर की भावना व्यक्त करते हुए कहा था कि—अहो! वही यह भूमि है, जहाँ नेमिनाथ भगवान ने वैराग्य प्राप्त करके दीक्षा ली थी। यहीं भगवान ने चारित्र भावना भायी थी। इसी भूमि में तीन कषायों के नाश से बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रंथ दिगम्बरदशा प्रगट करके भगवान, भावलिंगी मुनिदशा में आत्मा के निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते थे। यहीं इन्द्रों ने आकर भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया था और बलदेव-वासुदेव भगवान की वन्दना करते थे। मुनिदशा प्रगट करने के पश्चात् आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते केवलज्ञान भी भगवान ने इसी सहसावन में प्राप्त किया था। अहो! इस भूमि में भगवान ने केवलज्ञान प्राप्त किया और इन्द्रों ने आकर समवशरण की रचना की! इस समय जहाँ हम बैठे हैं, वह भूमि दीक्षा और केवलज्ञान की है; कल हमें पाँचवीं टोंक पर जाना है, वहाँ भगवान की निर्वाणभूमि है; वहाँ से भगवान सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं। इस समय भगवान उस पाँचवीं टोंक की समश्रेणी पर सिद्धालय में बिराजमान हैं। कल हमें वहाँ जाना है; इसलिये कल का दिन महान मांगलिक है।

अन्त में पूज्य गुरुदेव ने नेमिनाथ भगवान की जय बुलवाई थी। अभी भक्ति का उल्लास समाता नहीं था, इसलिये भक्तों ने भगवान की चरणपादुका की प्रदक्षिणा करते-करते अपार भक्ति की थी।

❀❀❀❀

गिरनार की पहली टोंक पर ही रात्रिचर्चा हुई थी। गिरनार पर भरी हुई वह हजारेक आदमियों की धर्मसभा बड़ी भव्य मालूम होती थी। चर्चा में पूज्य गुरुदेव ने नेमिनाथ भगवान का पवित्र जीवन और गिरनारजी तीर्थ की महिमा बतलाई थी; उसे सुनकर भगवान के पवित्र जीवन में से अद्भुत प्रेरणा मिलती थी। तदुपरान्त पूज्य गुरुदेव ने कहा था कि—भगवान के तीन कल्याणक की भूमि तो है ही, किन्तु दिव्यध्वनि में आये हुए श्रुतज्ञान की परम्परा सुरक्षित रहने का स्थान भी यह गिरनार ही है। श्री धरसेनाचार्यदेव इसी गिरनार की गुफा में रहते थे और यहीं उन्होंने पुष्पदन्त तथा भूतबलि मुनिवरों को दिव्यध्वनि की परम्परा से आनेवाला ज्ञान दिया था; उसी में से षट्खण्डागम की रचना हुई। इसप्रकार देव-गुरु और शास्त्र तीनों के योग से यह भूमि पावन है।

आज माघ शुक्ला ११ की रात्रि को पूज्य गुरुदेव और संघ के सभी लोगों ने गिरनारजी की पहली टोंक पर ही विश्राम किया था।

❀❀❀❀

पाँचवीं टोंक की यात्रा

[माघ शुक्ला १२]

माघ शुक्ला १२ के दिन प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव संघ सहित पाँचवीं टोंक पर पधारे थे। गुरुदेव के पीछे-पीछे पाँचवीं टोंक पर चढ़ते हुए भक्तजनों को बड़ी उमंग थी। मार्ग में से पाँचवीं टोंक का दृश्य अत्यन्त आकर्षक और भव्य मालूम होता था। भगवान पाँचवीं टोंक से मोक्ष पधारे हैं, इसलिये ऐसा मालूम होता था मानो वह शिखर गौरवान्वित हो रहा हो और भव्यों से पुकार-पुकार कर रहा हो कि हे भव्यो! आओ... यहाँ भगवान की सिद्धि का धाम देखने के लिये यहाँ आओ...! और वास्तव में आज पाँचवीं टोंक पर भक्तों का मेला लगा था। पाँचवीं टोंक के शिखर पर जहाँ करीब सौ लोगों के बैठने की जगह है, वहाँ ढाई-तीन सौ आदमी बैठे थे। पाँचवीं टोंक पर नेमिनाथ प्रभु के चरण हैं और एक शिला में भगवान की आकृति अंकित है। भगवान की पूजा करने के बाद सर्व प्रथम बहिनश्री बहिन ने निर्वाणोत्सव के काव्य द्वारा भक्ति कराई थी—

''आओ आओ जी... हाँ...हाँ...
आओ आओ जी
जैन जन सारे, प्रभु निर्वाण गये...
गुण गाओ जी सकल नरनारी
प्रभु शिवधाम गये...

❀❀❀❀

गिरनार की पंचम टुंक पर
चरण प्रभु का सोहे...
दूर दूर से हम सब (यात्री)
आकर देख प्रभु मन मोहे...
आओ आओ आओ जी...

तत्पश्चात् परम पूज्य गुरुदेव ने समयसार की ३८ वीं गाथा की अध्यात्म भरी धुन गवाई थी—

''हुं एक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञानदर्शनमय खरे,
कंई अन्य ते मारुं जरी परमाणु मात्र नथी अरे।''

गुरुदेव एकाकार लीनता से जब यह धुन बोलते थे, तब ''भगवान कैसी अध्यात्मभावना से मोक्ष को प्राप्त हुए'' उसका तादृश चित्र दृष्टि के समक्ष तैरता था।

उस अध्यात्म की धुन के पश्चात् पूज्य गुरुदेव ने कहा कि भगवान नेमिनाथ प्रभु यहाँ से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं... इस स्थान से भगवान के अनादि संसार का अन्त और अपूर्व सिद्धदशा का प्रारम्भ हुआ है। भगवान के आत्मा ने यहाँ से समश्रेणी में ऊर्ध्वगमन किया और एक समय में लोकाग्र में जाकर विराजमान हो गये। हाथ ऊँचा करके पूज्य गुरुदेव ने बतलाया कि देखो, यहाँ से ठीक ऊपर-समश्रेणी पर—सिद्धालय में भगवान का आत्मा पूर्णानन्द में विराजमान है। इस समय पूज्य गुरुदेव और सारे भक्तजन बड़े भाव से ऊपर सिद्धालय की ओर देखते थे। अहो! धन्य यह निर्वाणभूमि! यहाँ भगवान के असंख्य प्रदेश शुद्ध हुए... यहाँ भगवान ने मुक्ति प्राप्त की! धन्य है उस आत्मद्रव्य को, धन्य है इस क्षेत्र को, धन्य है उस काल को और धन्य है उस पवित्र भाव को! अहो, यहाँ उसका स्मरण होता है। भगवान तो ऊपर विराजमान हैं; वे कहीं नीचे नहीं आते, किन्तु जिसे उनका भान हो, उसे अपने ज्ञान में उनके स्मरण के लिये यह भूमि निमित्त होती है।

—इत्यादि प्रकार से, पाँचवीं टोंक पर पूज्य गुरुदेव जब भगवान का स्मरण करके भावभरा वर्णन करते थे, उससमय सब भक्तजन आनन्द से गद्गद् हो जाते थे। अहो, उससमय का वातावरण भक्तों के हृदय-पट पर अंकित हो गया है। जब भक्तजन गुरुदेव के साथ पाँचवीं टोंक पर बैठे थे, तब उन्हें ऐसी कृतकृत्यता लग रही थी मानो सिद्ध भगवन्तों के सान्निध्य में बैठे हों।

इसप्रकार पवित्र निर्वाण भूमि में सिद्ध भगवान का स्मरण और उनका गुणगान करके, फिर भगवान जिस सिद्धपद को प्राप्त हुए, उस सिद्धपद प्राप्ति की भावना के लिये गुरुदेव ने ''अपूर्व अवसर'' काव्य की निम्नोक्त कड़ियाँ गवाई थीं

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे...
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो...
सर्व संबन्धनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने...
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो...
मन वचन काया ने कर्मनी वर्गणा...

छूटे जहां सकल पुद्गल संबंध जो,
छूटया आंही सकल पुद्गल संबंध जो...
एवं अयोगी गुणस्थानक अहीं वर्ततुं
महाभाग्य सुखदायाक पूर्ण अबन्ध जो..
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे...
एक परमाणुमात्रनी मिले न स्पर्शता,
पूर्णकलंक रहित अडोल स्वरूप जो...
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहजपदरूप जो...
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे...
पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो,
सादि अनंत, अनंत समाधि सुखमां
अनंत दर्शन ज्ञानअनंत सहित जो...
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे..
जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो,
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी तो शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे।
एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में...
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो...
तो पण निश्चय राजचंद्र मननो रह्यो,
प्रभुआज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो...
अपूर्व अवसर एवो अमने आवशे।

अहो, धन्य वह भावना.. धन्य इस पवित्रधाम की गुरुजी के साथ हुई यात्रा...

इस भावना के पश्चात् थोड़ी देर तक सब शांत बैठे थे... उस अपूर्व उल्लासभरी यात्रा के

आनन्द की प्रसन्नता सर्वत्र दिखाई देती थी। अन्त में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के चरणों में चरण-स्पर्श और नमस्कार करके पूज्य गुरुदेव ने पहली टोंक की ओर उतरना प्रारम्भ किया। उतरते-उतरते गुरुदेव बारंबार यात्रा के उल्लास की बात करते हुए कहते थे कि—''इस बार की यात्रा ऐसी हुई कि लोगों को उसका रस लगा रहेगा।'' उससमय भक्त भी उल्लसित होकर कहते थे कि—''स्वामी! अब सम्मेदशिखर की यात्रा कराओ...''

पीछे चलनेवाले अनेक भक्तजन-गुरुजी ने गिरनार की यात्रा कराई इसलिये ''वाह... वाहजी... वाह...'' की धुन के साथ उतर रहे थे। वह उल्लास भरा दृश्य देखकर आनंद होता था। उतरते-उतरते मार्ग में गिरनार की विशाल चट्टानों पर जगह-जगह देव-गुरु-धर्म के जय-जयकार लिखे दिखाई देते थे... उनके द्वारा मानो सारा गिरनार पर्वत देव-गुरु-धर्म की जयकार ध्वनि कर रहा हो; गिरनार के पत्थर भी मानो भगवान का स्मरण करके उनकी जयध्वनि बुला रहा हों। गिरनारवासी श्री नेमिनाथ भगवान की जय हो... नेमप्रभु की कल्याणक भूमि गिरनारजी की अपूर्व यात्रा करानेवाले श्री कहान गुरुदेव की जय हो...

❀❀❀❀

भगवान श्री धरसेनाचार्यदेव गिरनार पर जिस चन्द्रगुफा में रहकर ज्ञान-ध्यान करते थे, और जहाँ पुष्पदंत-भूतबलि मुनिवरों को दिव्यध्वनि की परम्परा का श्रुतज्ञान (षट्खण्डागम का ज्ञान) दिया था, उस पवित्र स्थान का अवलोकन करने के लिये गुरुदेव दोपहर के समय गये थे। यह स्थान पहली टोंक पर जिनमंदिर और राजुलजी की गुफा के पिछले भाग में है। (इतिहास संशोधकों को निर्णय करके निश्चित स्थान खोजने की आवश्यकता है।)

इस प्रकार महा पवित्र गिरनारजी तीर्थ की अपूर्व यात्रा करके दोपहर को करीब २ बजे पूज्य गुरुदेव ने नीच तलहटी की ओर उतरना प्रारम्भ किया और भक्तजन भी शीघ्रता से उतरने लगे। उतरते-उतरते भक्तजन आनन्द से देव-गुरु की जय जयकार करते थे। यात्रा का उल्लास उनके हृदय में नहीं समाता था। पूज्य बहिनश्री बहिन भी उमंग में आकर बारम्बार ''वाह वाह जी वाह'' की नई-नई धुन बोलती थीं।

नीचे तलहटी में आने पर धर्मशाला के मन्दिर में करीब १ घण्टे तक भक्ति हुई थी; और रात्रि को आम धर्मशाला में पूज्य गुरुदेव के निकट तत्त्वचर्चा हुई थी। चर्चा के समय उस यात्रा के उल्लास भरे स्मरणों के साथ-साथ चौदह वर्ष पहले (सं. १९९६ में) की हुई यात्रा के संस्मरण

भी ताजे किये गये थे। पहली बार की अद्‌भुत यात्रा का वर्णन सुनकर और उसके दृश्य देखकर अनेक भक्तजनों को गुरुदेव के साथ गिरनारजी की यात्रा करने की तीव्र भावना थी; वह भावना आज पूरी हुई थी; इसलिये सब भक्तजन हर्षित थे और परम कृपालु गुरुदेव के प्रति प्रेमभाव उछलता था।

पाँचवीं टोंक पर पूज्य गुरुदेव ने सं. १९९६ की यात्रा को याद करते हुए कहा था कि उस समय ठीक फाल्गुन शुक्ला दोज के दिन यहाँ भक्ति की थी, और उसके दूसरे ही वर्ष में ठीक उसी दिन (सं. १९९७, फाल्गुन शुक्ला दोज) सोनगढ़ में भगवान की प्रतिष्ठा हुई थी—ऐसा प्राकृतिक मेल बैठ गया। इस बार की यात्रा भी पूज्य गुरुदेव के प्रताप से महान प्रभावना का कारण होगी।

रात्रि के समय पूज्य गुरुदेव और संघ के सभी लोग तलहटी में ही रहे थे।

गिरनार की पहली टोंक के जिनमन्दिर के आँगन में मानस्तंभ बनना है, जिसका सामान धर्मशाला में पड़ा है। पूज्य गुरुदेव वह सामान देखने के लिये पधारे थे। उस समय ऐसा लगता था कि—गिरनार तो नेमिनाथ प्रभु की मुख्य भूमि है, इसलिये यहाँ तो मानस्तंभ होना ही चाहिये।

[माघ शुक्ला १३]

माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन प्रातःकाल तलहटी के जिनमन्दिर में भक्ति की गई थी। ''हे जिनराज! तुम्हारा चरणकमलनी पूजना, हृदय उल्लसित थाय के भाग्य मानुं धणुं रे...'' यह जयमाला का काव्य पूज्य गुरुदेव ने बड़े भाव से पुनः पुनः गवाया था। और—

''जब चले गये भरतार मेरे गिरनार
हे मेरी सहेली, मैं किस विध रहूँ अकेली।''

—यह वैराग्य भरा काव्य गवाया था। और फिर—

''बोलो, भगवान नेमिनाथ प्रभु के तीन कल्याणक हुए उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की जय...'' इसप्रकार गुरुदेव ने स्वयं उल्लसित होकर जयकार कराई थी। तत्पश्चात् पूज्य बहिनश्री बहिन ने ''हो नेमि जिनेश्वर जी! काहे कसूर पै चल दिये रथ को मोर''—इत्यादि काव्यों द्वारा-भक्ति की थी, और नेमिनाथ भगवान की तथा उनकी भेंट करानेवाले पूज्य गुरुदेव की जयकारपूर्वक गुरुदेव के साथ समस्त भक्तजन शहर की धर्मशाला में आये थे। मार्ग में गुरुदेव खूब प्रसन्न दिखाई देते थे और भक्तजन भी गुरुदेव के साथ उल्लासपूर्वक भक्ति करते हुए चल रहे थे।

धर्मशाला में आने के बाद पूज्य बहिनश्री बहिन ने अत्यन्त उमंगभरी भक्ति कराई थी।

जूनागढ़ शहर में अद्‌भुत भक्ति और अपूर्व रथयात्रा

माघ शुक्ला १३ के दिन दोपहर को जूनागढ़ शहर के जिन मन्दिर में अद्‌भुत भक्ति हुई थी। पहले पूज्य गुरुदेव ने एक स्तवन गवाया था; फिर पूज्य बहिनश्री बहिन ने भक्ति कराई थी। भक्ति के अन्तिम भाग में ''वाह वाह जी वाह'' की धुन द्वारा, परम कृपालु गुरुदेव ने जो यात्रा कराई उसका उल्लास व्यक्त किया था और पुनः ऐसी यात्रा कराने तथा सम्मेदशिखरधाम दिखाने की माँग की थी।

तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेव का प्रवचन हुआ था। जूनागढ़ शहर के अनेक अग्रगण्य व्यक्तियों ने गुरुदेव के प्रवचन का लाभ लिया था। प्रवचन के पश्चात् परम पूज्य गुरुदेव ने सकल संघ को जो अपूर्व यात्रा कराई, उसके लिये संघ की ओर से उनका उपकार व्यक्त किया गया था और पूज्य बहिनश्री बहिन ने स्थान-स्थान पर उल्लासभरी भक्ति कराई, इसलिये उनका भी उपकार माना था।

अन्त में, यह अपूर्व यात्रा हुई, इसके हर्ष में श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकाली गई थी। रथयात्रा बड़ी भव्य और प्रभावक थी। रथयात्रा के बीच उच्च सिंहासन पर विराजमान जिनेन्द्र भगवान का दृश्य अद्‌भुत लगता था।—मानो भगवान की गंधकुटी ही विहार कर रही हो! साथ ही चँवर का मण्डप था; उस मण्डप के नीचे पूज्य गुरुदेव चल रहे थे। यह दृश्य भी बड़ा दर्शनीय था। रथयात्रा में भक्तों को बड़ा ही उल्लास था। ऐसी उल्लास भरी यात्रा, रथयात्रा और भक्ति जूनागढ़ में गत सैकड़ों वर्ष में शायद ही कभी हुई हो! जहाँ जहाँ भक्ति होती थी, वहाँ-वहाँ भक्ति का उल्लास देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे। वहाँ के मुनीमजी बावलराम सा. आदि कहते थे कि—''अहो! ऐसी अद्‌भुत भक्ति हमने कभी नहीं देखी.. ऐसी भक्ति हम पहली ही बार देख रहे हैं।''

भगवान की रथयात्रा जूनागढ़ के मुख्य मार्गों से होती हुई जिनमन्दिर लौटी थी और वहाँ खास भक्ति की गई थी। वह भक्ति ऐसी थी जो किसी विरल समय में ही देखने को मिल सकती है। पूज्य गुरुदेव ने जो अद्‌भुत यात्रा कराई, उसके हर्ष में भक्ति की सहज उमंग आ जाने से पूज्य बहिनश्री बहिन ने हाथ में चँवर लेकर भगवान की अलौकिक भक्ति की थी। अहो, मानो नेमिनाथ भगवान साक्षात् पधारकर सन्मुख विराजमान हों और समक्ष हृदय की वीणा बजा रही हों—इसप्रकार दोनों बहिनों ने एक-दूसरे के सन्मुख भक्ति भरे हावभावों द्वारा अपूर्व भक्ति की थी। वास्तव में ज्ञानियों के हृदय में जिनेन्द्र भगवान की कैसी अलौकिक भक्ति भरी है, इसका ख्याल उस समय आता था।

सायंकाल जिनमनिदर में आरती और भक्ति हुई थी, तथा रात्रि को चर्चा।

—इसप्रकार माघ शुक्ला १० से १३ तक के चार दिन तक नेमिनाथ भगवान की पवित्र कल्याणक भूमि में परम पूज्य गुरुदेव के साथ यात्रा का महान उत्सव हुआ था। यह यात्रा देखने से—पूर्वकाल में भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य ने संघसहित गिरनार जी की जो महान यात्रा की थी—उसका स्मरण होता था। भक्तों के हृदय में इस यात्रा का रस रह गया है और उन्होंने पूज्य गुरुदेव से प्रार्थना की है कि हे गुरुदेव! पुनः पुनः ऐसी यात्रा कराओ... शाश्वत धाम श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा कराओ! हे गुरुदेव सर्व भक्तजनों की यह भावना शीघ्र पूरी करो....

''सौराष्ट्र के नाथ'' श्री नेमिनाथ भगवान से भेंट करानेवाले, ''सौराष्ट्र के संत'' के चरणकमल में भक्तिपूर्वक वंदन हो।

[माघ शुक्ला १४ के दिन जूनागढ़ से विहार करके पू. गुरुदेव ने पोरबन्दर की ओर गमन किया था।]

—:: पूजित पंचम भाव परिणति ::—

कारणशुद्धपर्याय

पूजित पंचम भाव परिणति

कारणशुद्धपर्याय

[एक मुख्य महत्वपूर्ण विषय; समुद्र के दृष्टान्त से उसका स्पष्टीकरण]

(१) औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव—यह चारों भाव सापेक्ष हैं; उत्पाद-व्ययवाली पर्यायरूप हैं।

❀ जिस प्रकार समुद्र में मौजे होते हैं, उसी प्रकार आत्मा में रागादि विकारीभाव अथवा उनके अभाव में प्रगट होनेवाली निर्मल पर्यायें हैं; वे सब अपेक्षितभाव हैं, क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप

हैं; इसलिये वे भाव सम्यग्दर्शन के आश्रयभूत नहीं हैं।

(२) आत्मा में एक ''कारणशुद्धपर्याय'' अथवा विशेष पारिणामिकभाव है, वह तीनों काल निरपेक्ष हैं; उसमें उदयादि की अपेक्षा नहीं है; उसे निरपेक्षपर्याय अथवा ध्रुवपर्याय भी कहते हैं।

❀ जिस प्रकार समुद्र में पानी के समूह की सतह एक-सी होती है, उसी प्रकार आत्मा में ''कारणशुद्धपर्याय'' है, वह सदैव एक-सी है, उसे उदयादि की अपेक्षा नहीं लगती, वह विशेष पारिणामिकभावरूप है; आत्मा में सदैव सदृशरूप से वर्तती हैं। यह कारणशुद्धपर्याय प्रत्येक गुण में भी है।

(३) आत्मा के त्रिकाली द्रव्य-गुणरूप सामान्य पारिणामिकभाव, और वर्तमान कारणशुद्धपर्यायरूप विशेष पारिणामिकभाव—यह दोनों मिलकर पारिणामिकभाव की पूर्णता है। उसे निरपेक्षस्वभावभाव अथवा शुद्ध निरंजन एकरूप अनादि-निधनभाव भी कहते हैं। जो शुद्ध द्रव्यदृष्टि के विषय हैं।

❀ जिस प्रकार समुद्र में पानी का समूह, पानी का शीतल स्वभाव और पानी की सतह,—इन तीनों के अभेदरूप वह समुद्र है; वे तीनों सदैव ज्यों के त्यों रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में—आत्मद्रव्य, उसके ज्ञानादि गुण, और उसका सदृशरूप ध्रुववर्तमान अर्थात् कारणशुद्धपर्याय—यह तीनों मिलकर वस्तुस्वरूप की पूर्णता है; वही ''परम पारिणामिकभाव'' है और वही सम्यग्दर्शन के आश्रयभूत है।

जिसप्रकार ''समुद्र की सतह''—ऐसा कहा जाता है, तथापि समुद्र का पानी, उसकी शीतलता और उसकी वर्तमान एकरूप प्रवाह—यह तीनों पृथक् नहीं हैं; उसी प्रकार आत्मा में द्रव्य-गुण, वह सामान्य पारिणामिक और उसकी कारणशुद्धपर्याय, वह विशेष पारिणामिक —ऐसा कहा जाता है, तथापि द्रव्य, गुण और उसका ध्रुवरूप वर्तमान, वह तीनों (अर्थात् सामान्य पारिणामिक और विशेष पारिणामिक) वास्तव में पृथक् नहीं हैं किन्तु अभेद हैं; वही वस्तुस्वरूप की पूर्णता है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

[विशेष स्पष्टीकरण के लिये आगे पृष्ठ पर देखिये।]

विशेष स्पष्टीकरण

[१] वस्तुस्वरूप में द्रव्य-गुण-पर्याय पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

[२] जो द्रव्य-गुण तथा उसकी निरपेक्ष कारणशुद्धपर्याय है, वह त्रिकाल एकरूप है; उस में सदैव सदृश परिणमन है। अपेक्षित पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप विसदृश परिणमन है; संसार या मोक्ष दोनों पर्याय का समावेश अपेक्षित-पर्याय में होता है।

[३] जब उस अपेक्षितपर्याय की वृत्ति ध्रुववस्तु की ओर—परम पारिणामिकभाव की ओर जाती है तब, वह ध्रुववस्तु एकरूप सम्पूर्ण होने से, वहाँ उस पर्याय का उपयोग स्थिर रह सकता है; और ज्यों-ज्यों वह स्थिर रहता है, त्यों-त्यों उस पर्याय की निर्मलता बढ़ती जाती है।

[४] इस परम पारिणामिकभाव के स्वरूप को मानना—श्रद्धा में लेना ही सम्यग्दर्शन है।

[५] सम्यग्दर्शन के ध्येयरूप परम पारिणामिकभाव ध्रुव है, और उसके साथ त्रिकाल अभेदरूप जो कारणशुद्धपर्याय है, उसे "पूजित पंचमभाव परिणति" कहा गया है। (नियमसार टीका)

[६] द्रव्यदृष्टि में जो पर्याय गौण करने की बात आती है, उसे तो औदायिकादि चार भावों की पर्याय समझना; यह पंचमभावपरिणति अर्थात् कारणशुद्धपर्याय गौण नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो वस्तु के साथ त्रिकाल अभेद है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय—इन तीनों की अभेदता का ही अवलम्बन है, तीनों का पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है।

[७] धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्यों की पर्याय सदैव एकरूप पारिणामिकभावरूप ही वर्तती है; उसका ज्ञाता तो जीव है। जीव की प्रगट पर्याय में तो संसार-मोक्ष आदि विसदृशता है, किन्तु उसके अतिरिक्त एक-सदृश एकरूप निरपेक्ष "कारणशुद्धपर्याय" सदैव पारिणामिकभाव से वर्तती है, वह उपाधिरहित है और सर्व निर्मल-पर्यायें प्रगट होने का कारण है; द्रव्य के साथ वह सदैव अभेदरूप से वर्तती है। इस कारणशुद्धपर्याय को "परमपारिणामिकभाव की परिणति" कहकर ऐसा बतलाया है कि जैसी त्रिकाल सामान्य वस्तु है, वैसा ही उसका विशेष भी सदृशरूप से वर्तता है।

[८] इस कारणशुद्धपर्याय का व्यक्त उपभोग नहीं होता; उपभोग तो कार्यपर्याय का होता है। संसार या मोक्ष दोनों कार्यपर्याय है।

[९] जगत में संसारपर्याय, साधकपर्याय या सिद्धपर्याय सामान्यरूप से अनादि-अनंत हैं... उसी प्रकार यह कारणशुद्धपर्याय तो प्रत्येक जीव के अनादि-अनंत सदृशरूप से है; उसका कभी विरह नहीं है। यह कारणशुद्धपर्याय नवीन प्रगट नहीं होती, किन्तु उसका भान करनेवाले जीव को सम्यग्दर्शनादि कार्य नवीन प्रगट होता है।

[१०] परम कृपालु पूज्य गुरुदेव ने श्री नियमसार गाथा ३ तथा १० से १५ तक के प्रवचनों में, और पं. बनारसीदासजी की परमार्थ वचनिका में कहे हुए ''आगम-अध्यात्म के स्वरूप'' पर किये हुए प्रवचनों में इस विषय का खूब स्पष्टीकरण किया है; उसके आधार से यहाँ संक्षिप्त दिया है। यह विषय सूक्ष्म और सीधा गुरुगम से समझने योग्य है। जिज्ञासु पाठकों को इस नये विषय की कुछ झनक आये इस हेतु से इतना प्रकाशित किया है। पूज्य गुरुदेव के विस्तृत प्रवचन अब क्रमशः ''आत्मधर्म'' में प्रकाशित होंगे।

आनन्द का उपाय

आत्मा दुःख को दूर करके सुखी होना चाहता है, यानी आनन्द प्राप्त करना चाहता है। आनन्द तो आत्मा के स्वभाव में ही है, किन्तु अज्ञान के कारण बाहर से आनन्द लेना चाहता है। आत्मा का आनन्द बाह्य में है ही नहीं। आनन्द का सागर अन्तर में भरा है, किन्तु उसकी ओर जीव ने कभी देखा ही नहीं। चैतन्यानन्द को भूलकर बाह्य में ही आननद मान-मानकर अनादि से संसार में भटक रहा है। छोटी-सी आयु में श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि:—

''सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश ए लक्षे कहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो ?''

अरे जीवों! बाह्य इन्द्रिय विषयों में सुख मानने से अंतरस्वभाव का अतीन्द्रिय सुख छूट जाता है। ''बाह्य में मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख तो मेरे अंतरस्वभाव में है''—ऐसा विश्वास करके अन्तर के चिदानन्दतत्व का मनन करो। एकबार ऐसी पहिचान करके आत्मा में परम सत्य की झन्कार बिना बाह्य में आनन्द मान-मानकर जीव अनादिकाल से प्रतिक्षण भावमरण कर रहा है। यदि एक क्षण भी आत्मा का सत्यस्वरूप समझे तो वह भावमरण का भयंकर दुःख दूर हो जाये और परमानंदरूप मुक्तदशा प्रगट हो।

''अहो! मेरी वस्तु तो अंतर के ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है, आनंद के निधान मुक्त में ही भरे हैं; किन्तु उन्हें भूलकर अभी तक मैं बाहर भटकता रहा; तथापि मेरे चैतन्य निधान ज्यों के त्यों परिपूर्ण हैं''—इसप्रकार अंतरवस्तु का स्वीकार करना और उसकी महिमा करके स्वोन्मुख होना, वह अपूर्व आत्मकल्याण का मूल है; वही आनंद की प्राप्ति का उपाय है और वही धर्म है।

[—प्रवचन से]

अपूर्व

मैं जड़ से और जड़ के कार्यों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—इसप्रकार अपने स्वभाव का निर्णय जीव ने पूर्वकाल में एक सेकेंड भी नहीं किया, इसलिये वह अपूर्व है। इसके सिवा अन्य सब कुछ पहले कर चुका है, किन्तु उससे चार गति का परिभ्रमण दूर नहीं हुआ; वह कुछ भी अपूर्व नहीं है। भगवान! एकबार अपने चैतन्यतत्त्व को सँभालकर उसका अपूर्व निर्णय कर! तेरी अन्तरशक्ति के सर्वज्ञत्व विद्यमान हैं; उसे भूलकर अपने को विकार जितना तुच्छ मानता है और मैं जड़ के कार्य करता हूँ—ऐसा मिथ्याभिमान करता है, वह पाप है और दुःख का कारण है। अन्तर्मुख होकर अपने परिपूर्ण चिदानन्दस्वभाव का निर्णय करना, वह धर्म है और वही सुख का कारण है।

स्वयंभू भगवान

धर्म के लिये बाह्यसाधन की शोध में भटकते हुए जीवों को संतों का सन्देश है कि—

''दूसरा कुछ मत खोज!''

शुद्धोपयोग के प्रमाद से जीव स्वयं ही—स्वयमेव स्वभाव से परिणमित होकर केवलज्ञानरूप होता है, इसलिये वह ''स्वयंभू'' है। उसकी प्रशंसा करके आचार्यदेव समझाते हैं कि हे जीव! शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी साधन के साथ सचमुच तेरा सम्बन्ध नहीं है। अपने धर्म के लिये शुद्ध अनन्त शक्तिवान तेरा ज्ञानस्वभाव ही साधन है; उसके अतिरिक्त अन्य किसी साधन के साथ तेरे धर्म का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये हे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की प्राप्ति के लिये तू शुद्ध अनन्तशक्ति संपन्न अपने ज्ञानस्वभाव की ही खोज कर; उसके अतिरिक्त किसी अन्य साधन को ढूँढ़ने की व्यग्रता न कर। तेरा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव ही तेरा स्वतंत्र साधन है—किसी अन्य साधन को ढूँढ़ने में तेरी परतन्त्रता है। ''स्वयंभू''—ऐसा तेरा शुद्ध अनन्त चैतन्यशक्ति सम्पन्न आत्मस्वभाव ही सर्व प्रकार के साधनरूप होकर स्वयं धर्मरूप परिणमित होने में समर्थ है; इसलिये ''स्वयंभू भगवान''—ऐसे अपने आत्मा की ही अन्तर्मुख होकर खोज कर! अपने अनन्तशक्तिसम्पन्न शुद्धज्ञानस्वभाव के सिवा अन्य किसी भी साधन को न ढूँढ़।

स्वभाव को ही साधनरूप से अंगीकार करके परिणमित होनेवाले जीव स्वतंत्रता से स्वयं धर्मरूप हो जाते हैं, और धर्म के लिये बाह्यसाधनों की खोज करनेवाले जीव पराश्रय से परिणमित होते हुए व्यग्रता से परतंत्र होते हैं। इसलिये जिन्हें स्वाधीन धर्मरूप होना हो, वे अपने शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव को पहिचानकर उस एक का ही साधनरूप से अंगीकार करें, उस एक का ही आश्रय करें, और बाह्य साधनों का आश्रय छोड़ें... ऐसा संतों का उपदेश है।

अपने शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के लिये तेरे अंतर में स्वभावसामग्री परिपूर्ण है; तथापि अरे जीव! बाह्य में सामग्री की खोज करके तू व्यर्थ ही किसलिये व्यग्र हो रहा है? तेरे पास ही अंतर में साधन पड़ा हुआ है, उसे ढूँढ़कर उसका आश्रय कर...

दूसरा कुछ मत खोज! *[प्रवचनसार गाथा १६ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]*

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी